ॐ नमः शङ्करभगवत्पादाय

वचनामृत

(श्री नृसिंहशतक)

आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-२१

वचनामृत

परमपूज्य

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी नृसिंहगिरि जी महाराज

आचार्य महामण्डलेश्वर जी के

१०१ उपदेशों का संग्रह

श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज द्वारा

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी.४९/९ मिश्र पोखरा
वाराणसी २२१०१०

प्रथम संस्करण सं. २०१६

द्वितीय संस्करण

भगवत्पादाब्द	—	१२०९
वैक्रमाब्द	—	२०५४
खीष्टाब्द	—	१९९७

मूल्य : रु० ३०.००

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
रथयात्रा-गुरूबाग रोड, कमच्छा
वाराणसी - २२१०१०

ब्रह्मलीन श्री १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी नृसिंहगिरि जी महाराज

ॐ

प्रात:स्मरणीय परमपूज्य

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सकलनिगमागमनिष्णात

ब्रह्मविद्वरिष्ठ श्रीनिरञ्जनपीठाधिपति

अनन्त श्री

स्वामी नृसिंहगिरि जी महाराज

आचार्य महामण्डलेश्वर

के

कर कमलों में

यति शिष्य स्वामी महेशानन्द गिरि

विषय-सूची

आमुख

भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में आस्तिक व नास्तिक, वैदिक व अवैदिक का भेद रहा है। वस्तुतस्तु इस भेद का आधार मानव की दैव व आसुर प्रकृति ही है एवं जब तक यह प्रकृति रहेगी भेद भी रहेगा ही। इसी को पाश्चात्य संस्कृति में भूतवाद व ईश्वरवाद (heterodox and orthodox materialism & spiritualism, God and Satan) के नाम से कहा जाता है। अंतिम संसार के सुख को ही स्वीकार करती है एवं प्रथम संसार को केवल एक सोपान स्वीकार करके परमेश्वर को ही आनन्दरूप स्वीकार करती है। संसार के सुखों में भिन्न-भिन्न सुख को उद्देश्य मानकर व सुख के लक्षणभेद करके नास्तिक अवैदिक आसुर सम्प्रदायों में मतभेद चला एवं आज तक चल रहा है। इनमें चार्वाक जैसे ऋण करके भी घी पीने वाले हैं और बुद्ध जैसे विरक्त अनात्मवादी भी हैं। इस प्रकार आनन्द-स्वरूप परमेश्वर के लक्षणभेद से आस्तिक वैदिक दैव सम्प्रदायों में भी अनादिकाल से भेद चला आरहा है। इनमें भोग व मोक्ष दोनों को प्राप्त करके दोनों ही आनन्दों को महत्त्व देने वाले प्रवृत्तिमार्गी भी हैं; मोक्ष को ही आनन्द मानकर संसार के सुखों से पूर्ण विरक्त निवृत्तिमार्गी भी हैं, और ब्रह्मानन्द के एकत्व को ही सर्वत्र अनुभव करने वाले संसार को असत्य-कल्प समझ सत्परमेश्वर का ही सर्वविवर्त स्वीकार करने वाले विशुद्धाद्वैतवादी भी हैं। विशुद्धाद्वैतवाद या केवलाद्वैतवाद ही सर्व आस्तिक दर्शनों का मूर्द्धन्य है क्योंकि इसके साथ सभी आस्तिक दर्शनों का सामञ्जस्य व सभी साधनप्रणालियों

की एकरसता है। अतः अद्वैतवाद ही आस्तिक दर्शन का पर्याय बन गया है। सनातन के ही नहीं भारत के विधर्मियों ने भी अपनी सन्तवाणियों में अद्वैतवाद को ही किसी न किसी रूप मे प्रश्रय दिया है। यह दूसरी बात है कि उसके शुद्ध स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण उन्होंने उसको दूषित रूप दे दिया हो।

केवलाद्वैत का शुद्धतम संस्कृत रूप उपनिषदों में प्राप्त होता है। इसके आद्याचार्य स्वयं वेदमूर्ति भगवान् शंकर का दक्षिणामूर्ति रूप है एवं सम्प्रदायप्रवर्तक यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णु का नारायण रूप है। सर्वप्रथम स्वामी कार्तिकेयावतार भगवान् सनत्कुमार को इसका उपदेश व स्वयंभू ब्रह्मा को शिक्षा मिली। इस प्रकार इस सम्प्रदाय का आदि ही स्वयं परमेश्वर का श्रीविग्रह है। भगवती उमा को ही तो ब्रह्म-विद्या नाम से कहा गया है। इसीलिए जब-जब इस सम्प्रदाय का ह्रास होता है तब तब स्वयं परमेश्वर ही अवतार के द्वारा इसकी रक्षा करते हैं। सत्ययुग में मनु, कपिलादि ने, त्रेता युग में भगवान् राम, महर्षि वशिष्ठ, दत्तात्रेयादि ने, द्वापर में भगवान् कृष्ण, वेदव्यास, शुकदेवादि ने इसकी रक्षा की। कलियुग में बौद्ध आक्रमण से लुप्तप्राय इस सम्प्रदाय का उद्धार स्वयं भगवान् शंकर के पूर्णावतार भाष्यकार भगवत्पादाचार्यों ने किया एवं विष्णु के अवतार भगवान् पद्मपादाचार्य, ब्रह्मा के अवतार भगवान् सुरेश्वराचार्य, वायु के अवतार भगवान् त्रोटकाचार्य, सूर्य के अवतार भगवान् महेश्वराचार्य एवं समित्पाण्याचार्य, शुद्धकीर्त्याचार्य आदि शिष्यों के द्वारा उसे ऐसी दृढ अभेद्य कवचरूपी युक्तियों से परिरक्षित कर दिया कि घोर कलियुग में भी वह अक्षुण्ण बना रहे। इतना ही नहीं 'संघे शक्तिः कलौ युगे' के न्याय का अनुसरण करके एवं भविष्य में भी इस सम्प्रदाय पर आने वाली आपत्तियों का सामना करने वाली शक्ति

को मजबूत बनाने के लिए परमहंस संन्यासी सम्प्रदाय को, जो कि भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति के समय से ही अनाद्यनवच्छिन्नगुरुपरंपरा से वैदिक सम्प्रदायरूप से चला आ रहा था, संगठित रूप दिया। उनके प्रधान शिष्यों में कुछ तो संन्यासियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देकर विद्या-परम्परा की रक्षा करते थे एवं कुछ निरन्तर भ्रमण द्वारा जनसमुदाय को अधिकारानुरूप साधना में प्रवृत्त करके सम्प्रदाय का परिवर्धन व संरक्षण करते थे। इन्हीं ने बाद में मठ व पीठों का रूप ग्रहण किया। मठाध्यक्ष ही संन्यासियों के भोजनादि की व्यवस्था करते थे एवं सद्‌गृहस्थों की सहायता से सारा कार्य सम्पन्न होता था। कालान्तर में शृङ्गेरी मठ, ज्योतिर्मठ आदि मठ राजकीय सहायता को प्राप्त करके भारतीय संस्कृति के विश्वविद्यालय बन गये जिनसे न केवल वेदान्त वरन् न्याय-सांख्य-मीमांसादि दर्शनों की भी रक्षा यवनों के भीषण अत्याचार काल में भी हो सकी। इनमें से चार मठ शृंगेरी, ज्योति, गोवर्द्धन, कालिका भारतवर्ष के चारों दिशाओं में स्थित एवं चारों धामों से सम्बन्धित होने के कारण प्रधानतम शिष्यों द्वारा अधिष्ठित हुए एवं तत्तत्प्रदेश के सभी मठ इनके अन्तर्गत माने गये। आज भी वैदिक परमहंस संन्यासी अपनी विद्यागुरुपरम्परा का सम्बन्ध इन्हीं मठों में से किसी एक के साथ बतलाता है। इन मठों के परवर्ती आचार्य भी प्राय: अपने समय के विशिष्टतम विद्वान् होते आये हैं। इन मठों व इनके अन्तर्गत मठों में भी असंख्य विद्वान् तैयार होते रहे हैं व आज भी हो रहे हैं। मुगलों के अत्याचारों से यद्यपि कालिका व गोवर्द्धन मठ बीच में उच्छिन्न हो गये थे एवं ज्योतिर्मठ तो आज भी उसी अवस्था में है तथापि शृंगेरी व कामकोटि मठ आज भी वेदान्तविद्या के एवं मीमांसादि दर्शनों के प्रधान आश्रय हैं।

इसी प्रकार प्रचारकार्यों को भी संगठित रूप से करने के लिए छह प्रधान शिष्यों के अन्तर्गत सारा कार्य कर दिया गया। ये छह पीठ हैं जिनके अन्तर्गत आज भी सारा प्रचार कार्य होता है। मध्यकाल में जब मुसलमानों के शासनकालों में अत्याचार ही राज्य का स्वरूप बन गया एवं शस्त्र-बल से सभी वैदिकों को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया गया एवं वैदिक राजा नष्टप्राय हो गए तब इस अभूतपूर्व स्थिति का सामना करने के लिए सभी शांकर सम्प्रदाय के पीठाधीश्वरों व मठाध्यक्षों की सलाह से शस्त्रधारी परिव्राजक दल तैयार किया गया। इस दल की शिक्षा का स्थान अखाड़ा (तत्कालीन भाषा में मल्लशाला) हुआ। इनके संगठन में जो प्रजातान्त्रिक रूप अपनाया गया एवं जिस प्रकार का न्यायविभागादि स्थापित किया गया वह भारत के शिशु प्रजातन्त्र को ही नहीं ब्रिटेन इत्यादि के प्रौढ प्रजातन्त्रों को भी बहुत कुछ सिखा सकता है। इन शस्त्रधारियों को कोई नवीन सम्प्रदाय न समझ लेना चाहिए। ये तो उसी प्राचीन वैदिक परम्परा के छह पीठों का ही अभिन्न अंग हैं व आज भी वे अपने को उसी पीठ का सदस्य समझते हैं। इन्होंने अपनी संगठनशक्ति, निःस्वार्थता, बलिदान, अभय आदि सद्गुणों से शीघ्र ही न केवल वैदिक धर्मावलम्बियों की रक्षा की वरन् बड़े-बड़े भूमिखण्डों को अपने आधीन करके उनमें शुद्ध वैदिक धर्मानुकूल शासन करना प्रारम्भ कर दिया। इनकी सहायता की कामना बड़े-बड़े राजा भी करने लगे एवं जहाँ कहीं भी वैदिक धर्म की रक्षा का प्रसंग आया उन्होंने सभी के साथ सहयोग किया। कर्नल टॉड आदि प्रसिद्ध इतिहासकारों ने इनकी विशेष यंशोगाथा गाई है। लेक़िन राज्य स्थापित होने पर भी निःस्वार्थ एवं धर्मनिष्ठ होने के कारण इन्होंने केवल अपने अपने पीठ से सम्बन्धित देवता

को ही राजा स्वीकार किया एवं पञ्चदेवोपासक होने के कारण आज भी 'पञ्च की सलाह से हुआ' 'पञ्च आ गया' इत्यादि रूप से वे अपनी सर्वोच्च अधिकारी व्यवस्थापिका संस्था का परिचय देते हैं। पीठाधिपति जो अब तक केवल प्रचार का कार्य करते थे एवं पीठ के सर्वाधिकारी होते थे, अब राज्यस्थापना के बाद वैधानिक राजा बन गए एवं विशेष समयों पर ये ही पीठ का प्रतिनिधित्व करते थे। तभी से ये 'मण्डलेश्वर' भी कहाने लगे। लेकिन सारी व्यवस्था चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होती थी जो महन्त कहलाते हैं। 'मण्डलेश्वर' राजा के अर्थ में संस्कृत का प्राचीन शब्द है एवं संन्यासी-मण्डल (राज्य) का ईश्वर (अध्यक्ष) होने से ही संभवत: अन्य शब्दों की अपेक्षा इसे चुना गया होगा। लेकिन पीठाध्यक्ष का कार्य पीठ के घटकों की आध्यत्मिक उन्नति की प्रतिष्ठा एवं देशव्यापी प्रचार द्वारा पीठ की प्रतिष्ठा और इस प्रकार अद्वैतमार्ग के अनुयायियों और गृहस्थ भक्तों को वैदिकमार्ग में संलग्न रखना ही था। स्वभावत: विरक्त होने के कारण उन्होंने सर्वदा ही सारा कार्य प्रजातन्त्री तरीकों से चुने हुए प्रतिनिधि महन्तों पर ही रखा एवं विशेषावसरों को छोड़कर कभी भी राजकीय सम्मानों को महत्त्व नहीं दिया। इन्हें ही प्राचीन शिलालेखों में 'परिव्राजक राजा' कहा गया है। यद्यपि महन्त प्रति छह वर्ष में चुने जाते थे और आज भी चुन जाते हैं तथापि 'मण्डलेश्वर' को आजीवन चुना जाता था और केवल विशेष स्थिति में ही पदत्याग करने को बाध्य किया जा सकता था।

ब्रिटेन की शासनसत्ता स्थापित हो जाने पर धीरे-धीरे अराजकता मिटी एवं ये राज्य भी अखण्ड भारत में विलीन हो गये। ध्वंसावशेष रूप से इनके अधिकार में बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ रह गईं। "मण्डलेश्वर" पद का प्रयोग अब केवल "पीठाध्यक्ष" के लिए

प्रयुक्त होने लगा। एवं अन्य राजकीय सत्ताओं के समाप्त होने पर भी पीठ के कार्य में अद्यावधि राज्य व सैनिक परम्परा का ही पालन होता है। कुंभ, जो किसी समय महाराजाओं एवं सम्राटों से व्यवस्थित होते थे, जहाँ राजा हर्षवर्द्धन व परवर्ती राजा भी आकर धर्म की मीमांसा कराते थे एवं धार्मिक आदेश निकालकर पीठाचार्यों के निर्णयों को कानूनी रूप देते थे, मुगल काल में यवनों के घोर अत्याचारों के कारण केवल वैदिक निरीह जनता व साधुओं के सामूहिक हत्या का स्थान हो गया। भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्य के समय से ही कुंभावसर पीठनायकों के आपस में एवं अपने सभी घटकों से मिलकर धर्म की तात्कालिक अवस्थाओं को जान कर वैदिक धर्म के प्रशस्त प्रचार की व्यवस्था एवं कठिनाइयों के निवारणार्थ निर्णय करता था। इसीलिए कुंभावसर पर "समष्टि" आयोजन होता था एवं प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार जो "समष्टि" को किसी विशेष निर्णयार्थ बुलाता था वह पीठाध्यक्ष निर्णयानन्तर भोजन की व्यवस्था भी करता था। पीठाध्यक्ष की मृत्यु या पदत्याग होने पर समष्टि निर्णय ही नवीन पीठाधिपति का चुनाव करता था क्योंकि मठाम्नाय (भाष्यकार द्वारा पीठ चलाने का विधान) के अनुसार पीठ-परम्परा शिष्यपरम्परा से नहीं चलती। कुंभपर्व के विशृंखलित होने से संन्यास सम्प्रदाय उच्छिन्न-सा होने लगा। विशेषत: कुंभ-पर्वावसर पर ही पीठ के आचार्य पीठ के सभी घटकों का संन्यास संस्कार कराते थे। इस प्रकार सभी संन्यासियों का नवीन संन्यासियों से परिचय हो जाता था। पीठाचार्य का यह एक प्रधान कार्य था। अलग संन्यास संस्कार कराने का अधिकार संन्यासी को न था, न है। क्योंकि "निर्णयसिन्धु" व "यतिधर्म संग्रह" आदि में स्पष्ट ही योग्यतम संन्यासी को चुनकर प्रवचनादि करवा कर फिर

सर्वसम्मति से उसे अभिषिक्त करके आदेश दिया जाता है कि अब से तुम दूसरे को संन्यासप्रदान कर तीर्थादि संज्ञा दे सकते हो एवं गृहस्थ शिष्य को भी दीक्षा दे सकते हो। अतः कुंभपर्व के अव्यवस्थित होने पर सभी वस्तुएँ अव्यवस्थितप्राय हो गईं। पीठों के सैनिक संगठन के मजबूत हो जाने पर कुंभपर्व की व्यवस्था इसी पीठ के संगठन पर पड़ी एवं इन्होंने इस कार्य को पूरी तरह निभाया।अन्त में राज्यनिर्माण हो जाने पर तो पीठों में भी आपस में अपने ऐश्वर्य व शक्तिप्रदर्शन की होड़ सी चलने लगी। कुंभपर्व धार्मिक निर्णय ही नहीं हिन्दू संस्कृति के राजनैतिक निर्णयों का भी केन्द्र हो गया। जिस प्रकार आज के राज्य गणतन्त्रदिवस पर सांस्कृतिक प्रदर्शनी एवं अपनी सेना की शक्ति का प्रदर्शन करते हैं उसी प्रकार संन्यासी मण्डल कुंभपर्व पर किया करता था। यह पद्धतियाँ आज भी किसी न किसी रूप मे चल रही हैं। आज भी अखाड़े की ''छावनी'' होती है, ''मण्डलेश्वर'' की ''पेशवाई'' होती है व ''शाही'' निकलती है। 'तोप' नोखा चोखा गाड़ी जाती है।

धीरे-धीरे सैनिक शक्ति का उपयोग न रहा। केवल कुंभपर्व में ही मण्डलेश्वर अपने राजकीय रूप से जनता के सामने आते थे। अब शाहियाँ केवल भूतकाल की स्मृति का अवशेष रह गईं। लेकिन पीठाध्यक्ष शान्ति से नहीं बैठे थे। वे अपनी सुदूर दृष्टि से देख रहे थे एक नया युगः जिस बौद्धिक युद्ध में बौद्धिक सैनिकों की आवश्यकता होगी। समय से पूर्व तैयारी करना ही बुद्धिमान् का कार्य है। भाष्यकार द्वारा स्थापित गोवर्द्धन, कालिका व ज्योतिर्मठ की तरफ दृष्टि डाली गई। लेकिन यवन आक्रमण से छिन्न इन मठों से कोई विशेष आशा नहीं रही। सुदूर दक्षिण में अवस्थित शृंगेरी मठ के साथ भी सम्पर्क स्थापित हुए। बौद्धिक विकास विद्याकेन्द्रों में ही

सम्भव है। ये मठ ही विद्यासम्प्रदाय के रक्षार्थ आद्याचार्यों द्वारा स्थापित हुए थे। श्रृंगेरी के तत्कालीन मठाध्यक्ष व कार्यकर्त्ता अभी भी समय के प्रवाह से अतिदूर भूतकालीन स्वप्न देख रहे थे। किंच श्रृंगेरी अतिदूर में था। उस युग में वहाँ जाना आना सहज न था। दक्षिण भारत यवन आक्रमण से बचा हुआ था। वहाँ की विद्यापरम्परा आज भी शुद्ध व साम्प्रदायिक है। पर पीठनायकों का कार्य अति कठिन है। उन्हें परम्परा के यथार्थ रूप की रक्षामात्र ही नहीं परम्परा की यथार्थ रक्षा करते हुए बाह्यरूपों में परिवर्तन भी करना पड़ता है। जनता के निरंतर सम्पर्क से जनता की आवश्यकताओं व परिस्थितियों पर विचार कर धर्म-निर्णय करना पड़ता है। स्वयं भगवान् भाष्यकारों का आदेश है 'यतो विनष्टिर्महती धर्मस्यात्र प्रजायते। मान्द्यं सन्त्याज्यमेवात्र दाक्ष्यमेव समाश्रयेत्। परस्परेण कर्तव्या आचार्येण व्यवस्थितिः।।' अतः मठ व पीठ के आचार्यों का मतभेद स्वाभाविक है। मठाध्यक्ष पीठाचार्यों को सन्दिग्ध दृष्टि से देखते हैं, पीठाध्यक्ष मठाचार्यों को असामयिक समझते हैं। वास्तविक दृष्टि से यह ठीक ही है। मठाचार्य पीठनायकों को परम्परा से दूर नहीं जाने देते एवं पीठाध्यक्ष के उचित निर्णय कालान्तर में साम्प्रदायिक परम्परा के अंग बन जाते हैं। ये दोनों ही शक्तियाँ (heterodoxy and orthodoxy centripetal and centrifugal) परमहंस सम्प्रदाय को शुद्ध वैदिक रखते हुए सामयिक भी रखती हैं। स्यात् इसीलिए भगवान् भाष्यकार शंकर भगवत्पादाचार्यों ने इसे विभक्त रूप दिया था।

जब चारों मठों में से कोई भी इस कार्यभार को संभालने के लिए आगे न बढ़ा तो पीठनायकों ने पीठ के अखाड़ों पर दृष्टि डाली। ये ही स्थान थे क्योंकि पीठ पहले किसी स्थान पर नहीं रहता था, भ्रमण करके प्रचार ही करता था। आज भी पीठ "रमता पंच" ही

है। लेकिन जिन्हें विघटित सैनिक संस्थानों का कुछ भी अनुभव होगा वे जानते ही होंगे कि सैनिक संगठन का परिवर्तन अतिदुष्कर है। यह तो महन्तों की योग्यता, कार्यतत्परता एवं त्याग का फल है कि जिन अखाड़ों में ३-३ लाख मूर्तिएँ थीं उन्होंने भी कभी किसी निरीह पर हाथ न उठाया व सैनिक विघटन होने पर भी उनमें से कोई भी उद्दण्ड व्यवहार वाला न बन पाया। कुछ समय तक तो द्विराज्य (diarchy) भी चला जिसमें ब्रिटेन व अखाड़े दोनों ही कर उगाहते थे एवं शासन करते थे। पर स्वयं ही विचार कर महन्तों ने बिना किसी कठिनाई के अपना अधिकार परित्याग कर दिया। लेकिन ये महन्त मठाधिपति की तरह विद्याकेन्द्र चलाने में समर्थ न थे। अखाड़ों को विद्याकेन्द्र बनाना निकट भविष्यमें संभव न था। अब एक ही उपाय रह गया। पीठाचार्य ही मठस्थापना करें। लेकिन इसमें बड़ी झिझक थी। परम्परा से पीठाचार्य परम विरक्त होते थे। पीठों के राज्य-स्थापन होने पर भी उन्होंने कभी उसमें सक्रिय भाग न लिया था। मठकार्य-संचालन में नियामक संरक्षक, आर्थिक-भारसंवाहक, व्यवस्थापक सब बनना पड़ता है। निरन्तर भ्रमणशील प्रचारक इस कार्य का निर्वाह कैसे कर सकेगा? कहीं ऐसा न हो कि पीठनायक केवल मठाध्यक्ष ही रह जावे। कई सन्देह होते थे। अतः कुछ काल पर्यन्त मध्यम मार्ग अपनाया गया। बड़ी-बड़ी मण्डलियाँ रखी गईं जिनमें नियमतः संन्यासियों को पढ़ाया जाता था। नये संन्यासी तैयार किए जाते थे। साथ में भ्रमण व प्रचार भी चलता था। किसी किसी पीठनायक के पास १००-१२५ तक भी साधु रहने लगे। २-३ पीढ़ियों तक ऐसा चला। लेकिन व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आने लगीं। इतने लोगों को सर्वत्र भोजन मिलना भी सरल न था। भ्रमण में नवीन संन्यासियों को पढने का सुयोग भी कम मिलता था। पाठ नियम से चलता था पर मनन न हो पाता था। इन्हीं के वैयक्तिक

मतभेद व कठिनाइयों को दूर करने में पीठनायक का समय लग जाता था। अतः प्रचार कार्य शिथिल होने लगा। गृहस्थ भक्तों के सम्पर्क से संन्यासी बहिर्मुखी व प्रमादी बनने लगे। अब तक गृहस्थों के सामने चुने हुए योग्य संन्यासी ही आते थे, अन्य मठ या अखाड़ों में रहते थे, अतः संन्यासीमात्र पर गृहस्थ की श्रद्धा थी। अब नये साधकों को जब वही श्रद्धा भेंट पूजा मिलने लगी तो साधक का प्रमादी बनना स्वांभाविक था एवं किन्हीं गृहस्थों को अपना भक्त बनाकर वे संन्यासी मंडली से बाहर स्वतंत्र जीवन, जो सदा नैतिक भी नहीं होता था और उच्छृङ्खल तो सर्वदा होता था, व्यतीत करने लगे। इससे गृहस्थ भी अश्रद्धालु होने लगे। इन्होंने अनधिकार-चेष्टापूर्वक ही नवीन संन्यासी बनाने प्रारंभ कर दिये एवं इनको देख कर व्यवस्था और भी बिगड़ने लगी। गृहस्थ व साधक संन्यासी दोनों के सम्पर्क को मिटाना आवश्यक था। यह मठनिर्माण के बिना संभव न था। अतः अगत्या पीठनायक मठाधिपति बने।

सर्वप्रथम श्रीनिरञ्जन पीठ के तत्कालीन आचार्य ने काशी में मठ-स्थापन किया। फिर ऋषीकेश में भी स्थापना हुई। धीरे-धीरे अन्य मठ निर्माण होने लगे। प्रारम्भ में कई पीठनायक मठ के नवीन कार्य में इतने संलग्न हुए कि पीठ के प्रचारकार्य की उपेक्षा होने लगी। ऐसी अवस्था में उन्हें पीठाधीश्वर के पद को त्याग करने के लिए बाध्य किया गया। नवीन कार्यों में कठिनताएँ मतभेद आदि होते ही वे स्वयं ही पीठाचार्य का पद छोड़ एकान्तजीवन व्यतीत करने लगे। प्रचार-योग्यता, विद्या परम्परा-संरक्षण-योग्यता एवं व्यवस्थापकता एक ही व्यक्ति में मिलना अति दुर्लभ है! इसके साथ आदर्श आचारवान् संन्यासी, विरक्तपूर्णहृदय भी होना तो और कठिन है। फिर भी धीरे-धीरे मठ व पीठ दोनों के कार्य चलने लगे। पीठाधीश्वर

भ्रमण करते थे अतः मठों में पढ़ने की व्यवस्था अन्य संन्यासी करते थे। लेकिन योग्य प्रचारकों की आवश्यकता ने पठित संन्यासिओं को प्रचार कार्य में खींच लिया, ऐसी अवस्था में मठों में ही विद्यालय स्थापित हुए एवं विद्वान् पण्डित ही पढ़ाने लगे। धीरे-धीरे गृहस्थ विद्यार्थिओं के पढने की भी व्यवस्था की गयी एवं विश्वविद्यालयों से सम्बन्ध स्थापित होकर परीक्षाएँ भी होने लगीं। पीठाचार्यों ने प्रचारार्थ देहली, बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थानों में भी आश्रम स्थापित किये जहाँ नित्य सत्संग आदि की सुविधा से लाभ उठाकर आधुनिक जनता भी नास्तिकता से आस्तिकता की ओर बढने लगी। इन संस्थाओं के बढ़ने से व्यवस्था का भार अत्यधिक बढ़ गया एवं योग्य व्यवस्थापकों की कमी भी खटकने लगी। पीठाचार्यों का अधिक समय व्यवस्था में व्यतीत होने लगा एवं प्रचार कार्य की शिथिलता से प्रचार की व्यापकता में कमी आने लगी। इसलिए एवं अन्य कई कारणों से पीठाध्यक्ष एवं पीठ के कार्यकर्ताओं ने पीठ के अन्तर्गत अन्य भी आधिकारिक प्रचारक बनाने का निश्चय किया। अतः पीठाधीश्वरों से अतिरिक्त भी 'मण्डलेश्वर' बनाए गए जो पीठ के अन्तर्गत कार्य करें। अब मण्डलेश्वर शब्द केवल आधिकारिक चुने हुए प्रचारक को द्योतित करने लगा। धीरे-धीरे सभी योग्य प्रचारक इस पद पर आने लगे। कई अन्य विद्वान् संन्यासी स्वतन्त्र प्रचारक बनकर कार्य करने लगे। इन सभी ने वैदिक सिद्धान्त की रक्षा में पूर्ण सहयोग दिया यह निःसन्दिग्ध है। इनके सहयोग एवं प्रचार में ही आज भी वैदिक धर्म सुरक्षित है। आधुनिक भौतिकवाद एवं अनीश्वरवाद के प्रचार से सनातन धर्म की रक्षा इसी संगठन से हो सकती है। लेकिन क्या आज की क्रान्तिकालीन परिस्थित से ये अनादि परम्परा बच सकेगी? कौन कह सकता है! भविष्य ही निर्णय कर सकेगा।

श्री निरञ्जन पीठ

उपर्युक्त पीठों में श्री निरञ्जन पीठ भी एक अति प्राचीन पीठ है एवं स्वामी कार्तिकेय की उपासना की इसमें प्रधानता है। इस पीठ की विशेषता रही है कि प्राचीन परम्पराओं का इसमें पालन पूर्णरूप से रहा है। पीठ के इष्टदेव की कृपा से इसके पीठाधीश्वर अपने समय के योग्यतम विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ परमत्यागी व तपस्वी रहते आये हैं। इस पीठ के व्यवस्थापक महन्त लोग भी योग्यतम, त्यागी एवं कुशल व्यक्ति रहे हैं। अत: संन्यासी सम्प्रदाय में इस पीठ का विशेष आदर व सम्मान है। उपर्युक्त ऐतिहासिक परिवर्तनों में से यह पीठ उज्ज्वल-रत्नवत् चमकता हुआ निकला है एवं अपने आदर्शों को अक्षुण्ण रखते हुए अन्य पीठों के लिए आज भी स्पर्धा का विषय बना हुआ है। इसके पीठाधीश्वर काशी में श्री दक्षिणामूर्ति मठ, श्रीदक्षिणामूर्ति संस्कृत महाविद्यालय, श्री ध्रुवेश्वर मठ, श्री नन्दिकेश्वर मठ एवं देहली में श्री संन्यास आश्रम , श्री विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय आदि का कार्य संचालन करते हैं जहाँ शताधिक संन्यासी विद्यार्थी लाभ उठाते हैं। श्री दक्षिणामूर्ति मठ का अपना अलग एक साम्प्रदायिक महत्त्व हैं एवं इसकी विद्या-परम्परा अनाद्यनवच्छिन्न गुरु परम्परा से प्राप्त है और इसकी उपासनापद्धति गूढ एवं प्राचीन है। इसकी परम्परा से विद्वत्समुदाय सम्बन्धित रहा है। इसका प्रमाणपुर:सर विवेचन स्थानाभाव से अशक्य है।

इस पीठ के आधुनिक आचार्यों में **श्री १०८ नृसिंहगिरि जी महाराज महामण्डलेश्वर** ने पीठोन्नति के लिए समधिक परिश्रम किया है। आप वेदान्तशास्त्र के उद्भट विद्वान् ही नहीं वेदान्त के गूढ तत्त्वों को सरल भाषा में जनता के सामने सुबोध रूप से प्रस्तुत करने

में साक्षात् बृहस्पति के समान हैं। आपने अपने २४ वर्ष के पीठाधीश्वर काल में न केवल काशी में संस्कृत विद्यालय स्थापित किया बल्कि भारत की राजधानी देहली में सांस्कृतिक व आध्यात्मिक केन्द्र संन्यास आश्रम व श्रीविश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय स्थापित कर धर्म व राष्ट्र की अभूतपूर्व सेवा की है। आपके शिष्यों में से अनेक मण्डलेश्वर पदों पर हैं एवं अनेक धर्मप्रचार के कार्य में रत हैं। आपने अपने निरन्तर धर्मप्रचार से बीकानेर, लाहौर, देहली, अमृतसर, नापासर आदि नगरों में धार्मिक जागृति उत्पन्न कर उत्पथ में जाने वालों को सत्पथ में लगाया। यद्यपि अब आपने सक्रिय पद का त्याग कर दिया है फिर भी अनवरत मार्गदर्शन द्वारा अब भी पीठ की उन्नति के लिए आप क्रियाशील हैं। आपका आचार व शास्त्रश्रद्धा संन्यासी समाज के लिए एक आदर्श रहा है व विशृंखलता के प्रसार को रोकने में आप एक बहुत बड़ी श्रृंखला रहे हैं। आपका परमवैराग्यमय जीवन एवं तोप-निष्ठा अश्रद्धालु के हृदय में भी श्रद्धा भरते हैं। अतः इस वचनामृत में आपके उपदेशों का सार जैसा है वैसा रखने का प्रयत्न किया गया है। प्रयत्न उस परमेश्वर का ही है व फल भी उसी का है। शिष्य का कर्तव्य तो गुरुसेवामात्र है।

संवत् २०१६ — महेशानन्द गिरि

धर्म

'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः' इस वाक्य से ऋषियों ने वेद-प्रतिपादित विषय को ही धर्म पद का वाच्य माना है। ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन, पांचरात्र, पाशुपतादि तो मत हैं। उनका वेदानुकूलांश धर्म है अतः खण्डन-योग्य नहीं, एवं वेदविरुद्धांश मान प्रतिष्ठा के लिए अथवा अज्ञान से कल्पित है अतः खण्डनयोग्य है और अधर्म है।

*　　　　*　　　　*

शास्त्रीय कर्मों में मनुष्यमात्र का अधिकार है। मानव योनि ही कर्म योनि है। पशु देवादि न सिंहवत् गंगास्नान से पुण्यलाभ करते हैं व न गोभक्षणादि से पाप।

*　　　　*　　　　*

मानव जन्म लेकर कोई कहे, ज्ञात न होने के कारण मैंने वैदिक कर्मानुष्ठान नहीं किया, तो वह क्षम्य नहीं हो जाता। पाप का भागी बनेगा ही। परमेश्वर ने वेद प्रदान कर अपना कर्तव्य कर दिया। अब मानव जन्म पाकर अपने लिये विहित कर्म व उपासना का ज्ञान प्राप्त कर अनुष्ठान करना जीव की जिम्मेवारी है।

*　　　　*　　　　*

स्ववर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए थोड़ी भी उपासना बड़ा फल देती है। धर्मत्यागी अधिक उपासना का भी थोड़ा फल पाता

है। अतः सभी को स्वधर्म का पालन करते हुए उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए।

* * *

वेदविहित कर्म न करने से ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन, प्रत्यवाय की प्राप्ति व निषिद्ध कर्म रूपी तीन पाप लगते हैं।

* * *

"नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्" की श्रुति वेद न जानने वाले को ब्रह्मज्ञान की संभावना का निषेध करती है। यहाँ अर्थज्ञानपर्यन्त वेदाध्ययन से तात्पर्य है।

* * *

वेदप्रतिपादित मार्ग ही संसारस्थिति का कारण है। अन्य मार्ग यद्यपि चाकचिक्य से स्वल्पकाल पर्यन्त व्यापक व स्थायी प्रतीत होते हैं पर विनाशोन्मुखी ही होते हैं। इतिहास ने इसे अनेक बार सिद्ध किया है।

* * *

ईश्वर भी वेद का कर्ता नहीं है। पूर्वजन्म के स्मृत वेदार्थ का ही उपदेष्टा ईश्वर है। अतः वेद नित्य है। कृत्रिम पदार्थ कार्य होने से नष्ट होते हैं यथा घटादि। अन्य सभी धर्म किसी काल में उपदिष्ट व निर्मित हैं अतः स्वयं भी नष्ट होंगे और अनुयायी को भी नष्ट करेंगे। वेद ही नित्य होने से अनुयायी की नित्य रक्षा रूपी आनन्द स्वरूपिणी मुक्ति देने में समर्थ है।

अन्तःकरण में दो प्रकार की मलिनताएँ होती हैं। (१) कर्मज—प्राचीन पुण्यपापों का फलरूप। (२) गुणज—काम क्रोध लोभादि वृत्तिरूप इच्छाओं का फल।

*   *   *

शास्त्रीय कर्मानुष्ठान रूप धर्म से पाप धुलकर कर्मज मलिनता निवृत्त होती है। फलाभिसन्धि के परित्याग से कामनाप्रतिरोध के द्वारा गुणज मालिन्य भी दूर होता है। इसी लिए निष्काम धर्मानुष्ठान को शास्त्रों में प्रतिपादित किया है।

*   *   *

लन्दन के श्रेष्ठ होटल को जानना हो तो विश्वासपूर्वक अखबार पढ़ो। पारलौकिक विषय व भगवान् को जानना हो तो श्रद्धापूर्वक शास्त्र पढ़ो।

*   *   *

सुख दुःख प्रारब्ध से मिलता है ऐसा दृढ निश्चय मनुष्य को वीतरागभयक्रोध बनाकर परमशान्ति के मार्ग का पथिक बना देता है।

*   *   *

हम दो चार दिन के लिए भी कहीं जावें तो पहले से रेल व होटल में रिजर्वेशन कराते हैं। फिर अनन्त काल के लिए प्रयाण करते समय बिना विचारे, बिना रिजर्वेशन कराए जाना कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

यदि अपने नुकसान पहुँचाने वाले पर क्रोध करना स्वाभाविक मानते हो तो चारों पुरुषार्थों को (धर्म-अर्थ-कामं-मोक्ष) नष्ट करने वाले क्रोध पर क्यों नहीं क्रोध करते? मानव का अविचार ही आश्चर्य है।

* * *

कर्मफल को भगवदर्पण करना स्वयं अपने को ही अर्पण करना है। बिम्ब में आभूषण पहनाने से प्रतिबिम्ब आभूषित होता है। प्रतिबिम्ब को अन्य किसी उपाय भे आभूषण नहीं पहनाया जा सकता। भगवान् ही तो जीव का वास्तविक स्वरूप हैं।

* * *

अकाल मृत्यु का अर्थ 'बिना समय आए मृत्यु' ऐसा नहीं समझना क्योंकि प्रारब्ध शेष होने के पूर्व मृत्यु असम्भव है। इसका अर्थ तो है अप्राकृत मृत्यु। पिता से पूर्व पुत्र की मृत्यु, युवावस्था में मृत्यु, दुर्घटना से मृत्यु इत्यादि प्रकृति के प्रतिकूल होने से अकाल कही जाती हैं। लेकिन ये भी प्रारब्ध में निश्चित होती हैं।

* * *

सत् केवल परमात्मा है। अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिए किया हुया आचार ही सदाचार है। परमात्मा धर्मरूप है अतः धर्म-पालन भी सदाचार कहा जाता है। सत्पुरुष में भी परमात्मा का आविर्भाव है अतः उसकी आज्ञा का पालन भी सदाचार है। श्रुति-स्मृति— शिष्टाचार प्रमाणत्रय से प्रतिपादित एवं स्वमन को शान्ति देने वाला आचार ही श्रेष्ठ सदाचार है।

सिनेमा आज की संस्कृति का अभिशाप है। इससे लोगों ने चोरी, जारी, डाका, सुरापान, निर्लज्जता सीखी। जो लोग दिन भर काम करके रामायण, महाभारत की कथा या कीर्तन करके आध्यात्मिक वा नैतिक लाभ प्राप्त कर सोते थे वे ही अब गन्दे व्यभिचारपूर्ण गाने गाकर आत्मा का नाश करते हुए सोते हैं। जो लोग चरित्र निर्माण का ढोल बजाते हुए घूमते हैं वे जब तक इस अभिशाप का सामना नहीं करेंगे तब तक उनकी सत्यता पर विश्वास होना असम्भव है।

*　　　　*　　　　*

कोई कहते हैं सिनेमा में अच्छे धार्मिक व भक्तिपूर्ण चित्र भी आते हैं। इस प्रकार तो वेश्यागामी भी कहते हैं कि वेश्याएँ मीरा व सूर के भक्ति पद गाती हैं। क्या फिर वेश्यागमन भी अच्छा माना जाना चाहिए? जैसे वहाँ पद व संगीत श्रेष्ठ होने पर भी दुर्वासना के वातावरण में पतन होकर अन्त में चस्का लगकर गंदे स्थानों में भी गमन होगा वैसे ही यहाँ भी अन्त में गन्दे चित्रों में ही बालक भी पैसे चुराकर जाते देखे जाते हैं। सावधान, कभी भी अपने बच्चों के नाश को स्वयं ही प्रारम्भ न करो। फिर पछताने से लाभ न होगा।

*　　　　*　　　　*

पूर्वकाल में परस्त्री-दर्शन भी निषिद्ध मानते थे। आज तो कपड़ोंके लेबुल, साबुन व तेल के लेबुल सर्वत्र अत्यन्त ही कामोत्तेजक नग्नप्रायावस्था में परस्त्रीदर्शन होता है। लड़कों के कपड़ों पर भी इसी प्रकार के चित्र देखने में आते हैं। या तो लोग समस्त

राष्ट्र क़ो व्यभिचार का अड्डा बनाना चाहते हैं और या वे सभी को शुकदेव मान बैठे हैं। इन नाशकारी अंगों की तरफ ध्यान दिये बिना क्या राष्ट्र, समाज या धर्म का उत्थान सम्भव है?

*   *   *

भोजन की तरह ही भजन की आवश्यकता है। भोजन इहलोक में फल देता है, भजन परलोक में भी व इहलोक में भी। जब ४ बार भोजन का समय निकालते हो तो भगवद्भजन में समय की कमी कैसे बाधक बन जाती हैं?

*   *   *

संसार में क्या बिगड़ा क्या सुधरा इस पर विचारने से पता लगता है कि न तो संसार बिगड़ा क्योंकि मायाकार्य होने से हमेशा ही बिगड़ा है और न धर्म बिगड़ा क्योंकि वह तो महेश्वर से अभिन्न है अत: हमेशा ही सुधरा है। बिगड़े तो हम जीव और सुधरेंगे भी हम ही। अत: अपना सुधार ही वास्तविक सुधार है।

*   *   *

आज संस्कृति की बड़ी चर्चा है। धर्मोपयोगी देह इन्द्रिय की क्रिया ही वास्तविक संस्कृति है।

*   *   *

भारतीय संस्कृति सर्वकल्याणमयी परम पवित्र व व्यावहारिक उस संस्कृति का नाम है जिसको वेद एवं रामायणादि सद्ग्रन्थों में निरूपित किया गया है तथा कुमारिलभट्ट एवं शङ्करभगवत्पादाचार्य

द्वारा सुरक्षित किया गया है। भारतीय संस्कृति के अन्वेषण में उसका आदिस्रोत हिमालय पर स्थित गौरीशंकर ही सिद्ध होता है। दाम्पत्य प्रेम व पतिव्रता का आदर्श अर्धनारीश्वर व सती जैसा अन्यत्र दुर्लभ है तो ज्ञान व वैराग्य की चरम सीमा भी शङ्कर से अन्यत्र असम्भव। प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनो ही वहाँ पूर्ण हैं योग तो मानो शिवस्वरूप ही है एवं भक्ति-मन्दाकिनी का प्रवाह तो शिव-पार्वती संवाद की ही मूर्ति स्वीकार करना पड़ता है। अतः निःसन्दिग्ध रूप से भारतीय संस्कृति का मूर्तिमान् रूप ही गौरीशङ्कर हैं।

* * *

भोगविलास के प्रसाधनों की वृद्धि युवक युवतियों के धन, स्वास्थ्य तथा चरित्र का नाश कर रही है। पाउडर, स्नो, सेण्ट, लिपस्टिक आदि सामग्रियाँ एक बार प्रयोग में लेकर छोड़ना कठिन है। शृङ्गार के मूल में कामभावना है इस वस्तुस्थिति को छिपाने का प्रयत्न व्यर्थ है। मनोविज्ञान व जीवविज्ञान इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुका है। पत्नी का सौन्दर्य व शृङ्गार पति के लिए ही धर्मानुकूल हो सकता है। आज तो ध्येय ही दूसरा बन गया है।

* * *

भक्ष्याभक्ष्य एवं स्पर्शास्पर्श के अविचार ने तो आज धीरे-धीरे सिद्धान्त का स्थान ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया है। पहले मांस, अण्डे, शराब पीने वाले को समाज हेय मानता था अतः ये दुर्गुण छिप के किये जाते थे। आज इसके विपरीत इनके सेवन को महत्ता व समाज सेवा का भी रूप दिया जाने लगा है। अतः खुले स्थानों

में इनका सद्गुण समझकर पालन किया जाता है। क्लब घरों की नृत्यशालाओं में पान-गोष्ठिओं के बाद जो काण्ड देखने में आते हैं वे कभी-कभी यह सोचने को बाध्य कर देते हैं कि क्या ये मनुष्य हैं या असुर ही मानवरूप धारण करके क्रीडा कर रहे हैं।

*　　　*　　　*

आहार का मन से करण-कार्य सम्बन्ध है। तमोगुणी आहार करके ध्यान जप या योग भक्ति का साधन करने की आशा पानी से दीपक जलाने की आशा है। अतः साधक को आहारशुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

*　　　*　　　*

सत्कर्मी परोपकारी मरने पर भी जिन्दा है व असदाचारी जीवित ही मृत है।

*　　　*　　　*

जल को जितना छानोगे और ढक कर रखोगे उतना ही स्वच्छ रहेगा एवं जितना खुला रखोगे उतना ही मलिन होगा। इसी प्रकार मन को जितना संयम में रखोगे एवं अन्तर्मुख बनाओगे उतनी ही शान्ति एवं सुख मिलेगा। मन की स्वतन्त्रता और बहिर्मुखता ही मनुष्य और समाज को विनाश की ओर ले जाती है।

*　　　*　　　*

अल्पार्थ में नर शब्द से नरक शब्द बनता है। अतः अपूर्ण नर ही नरक हैं। देहाभिमान से भूमा का परिच्छिन्न हो जाना मन के

तादात्म्य से सर्वज्ञ का अल्पज्ञ बन जाना, प्राण से ऐक्यानुभव करके सर्वकर्ता पूर्णशक्तिमान् का अल्पशक्तिमान् रूप नर का नरक बन जाना है। रौरवादि तो देशविशेष हैं जिनमें पापकर्म का फल भोगने के लिए जीव जाता है।

*　　*　　*

पापियों का धन सत्कार्य में नहीं लगता वरन् राज्यकर में, घूस में एवं सिनेमा, होटल आदि दुष्कर्मों में व्यय होता है। अन्नदान, विद्यादान, धर्मदान में पुण्यात्माओं का धन व्यय होता है।

*　　*　　*

संसार में अपने वर्णाश्रमधर्मानुकूल सारे व्यवहार सुन्दरता, स्वच्छता व नेकनीयती से करते हुए नाटक के पात्र की तरह अलिप्त रहना ही कर्म की कुशलता एवं योग है। अपने किसी भी कर्म से समाज में बुरे भाव अथवा प्रमाद उत्पन्न न हो इसका विशेष ध्यान साधक को रखना योग्य है।

*　　*　　*

कभी भी किसी का अपमान न करो। सभी का सत्कारपूर्वक सेवा करना ही संसार में शान्ति व सुख का मार्ग है। यदि कोई भूल भी करे तो उसे प्रेमपूर्वक समझाओ, अपमानपूर्वक नहीं।

*　　*　　*

जैसे पतिसेवा पत्नी का धर्म है वैसे ही पत्नी का भरणपोषण अपना धर्म समझना पति का भी धर्म है। पति के कमाये धन में पत्नी

का अधिकार है एवं यदि पत्नी दानपुण्य सत्कार्य में व्यय करना चाहे तो पति को भी सहयोग देना चाहिए।

*　　　　*　　　　*

आज बहुत से पति पत्नी को तो पतिव्रता धर्म के उच्च आदर्श की शिक्षा देते हैं पर स्वयं भोगविलास में प्रवृत्त रहते हैं। यदि पति स्वधर्म पालन में तत्पर नहीं तो पत्नी से धर्मपालन की आशा करना निष्फल है।

*　　　　*　　　　*

मनुष्ययोनि में जन्म लेने से ही मनुष्य नहीं बन जाता जब तक मानवोचित कर्म गुण उसमें न हों। अतः धर्मपालन से सर्वप्रथम मानव बनने की साधना करनी चाहिए।

*　　　　*　　　　*

इन्द्रिय सम्बन्धी भोग तो पशुयोनि में भी हैं। उनका त्याग केवल मनुष्ययोनि में ही सम्भव है। अतः अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करो नहीं तो सम्भव है पुनः यह अधिकार अनुपयुक्त होने के कारण तुम्हें न मिले।

*　　　　*　　　　*

उपासना

गायत्री में 'भर्ग' की उपासना तेजोमय शिवलिंग की ही उपासना है। गायत्री जपते समय तेजोमयी शिवमूर्ति का ध्यान करना चाहिए। गायत्री सभी द्विजातियों के लिए अवश्यानुष्ठेय है।

*　　　*　　　*

भगवान् दीननाथ भी हैं और जगन्नाथ भी। लेकिन वे जगत् के नाथ हैं पर दीन उनके नाथ हैं। प्रभु कृपापरवश हैं एवं कृपा दीनों के वश में है।

*　　　*　　　*

दीन कौन हैं? दीन अर्थात् याचक। संसार के पदार्थों का याचक तो कामुक है, याचक नहीं। याचक तो "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।" इस शास्त्रवचन के अनुससार "मैं तेरा हूँ" कहकर एक बार ही आत्मनिवेदन करने वाला ही है अर्थात् दीन है। ऐसे के वश में ही प्रभु हैं।

*　　　*　　　*

नामरूपों की उपेक्षा करके अपने भीतर चाहे बाहर चित्त को सच्चिदानन्दरूप में स्थित करना रूप समाधि ही श्रेष्ठ उपासना है।

*　　　*　　　*

ब्रह्म शुद्ध मन का विषय है। अशुद्ध मन से परमेश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। इन्हीं दो दृष्टियों से आत्मा को कहीं मन का अविषय

कहीं मन का विषय बताया है। अतः शुद्ध मन के द्वारा की हुई आत्मैक्यभावना ही ब्रह्मोपासना है।

*　　　*　　　*

अनुभूति के अभाव में भी शास्त्र व आचार्य के उपदेश से जानकर श्रद्धापूर्वक की हुई उपासना अन्त में ब्रह्मदर्शन कराती ही है। यहाँ भी कारण तो महावाक्य ही है अतः प्रमोत्पत्ति ही है। ध्यान तो प्रतिबन्धनिवर्तक है।

*　　　*　　　*

परमेश्वर वस्तु के ग्राहक नहीं, भाव के ग्राहक हैं। वायवीय संहिता में स्वयं देवाधिदेव प्राणवल्लभा पार्वती को कहते हैं 'परिपूर्णस्य नित्यस्य मम किं क्रियते नरैः। किन्तु सर्वात्मना देवि मया भावो हि गृह्यते।।' परमेश्वर तो जीव को स्वस्वुरूप में मिलाने के लिए कृपा करके भाव को एवं भाव से दिए हुए पदार्थों को स्वीकार करते हैं अतः 'भावपूजा' ही प्रधान है।

*　　　*　　　*

यद्यपि मानव इस देह में नीच वर्ण से उच्च वर्ण का नहीं बन सकता है तथापि भक्ति, योग व ज्ञान के बल से परमेश्वर को प्राप्त करके सर्वोत्तम व विश्ववन्द्य बन सकता है। आध्यात्मिक स्थिति व प्रगति को सामाजिक स्थिति व प्रगति में बदलने की कामना तो भक्त की हो ही नहीं सकती। ऐसी कामना वाले तो धर्मवणिक अतः निन्द्य हैं। सामाजिक सम्बन्ध और वस्तु है, शिवजीव का आध्यात्मिक सम्बन्ध और ही वस्तु है।

'ॐ नमःशिवाय' 'ॐ क्लीङ्कृष्णाय' ॐ ऐं ह्रीं क्लीञ्चामुण्डायै विच्चै' आदिमंत्र को प्रथम वर्ष वैखरी वाणी से जपे, पश्चात् नौ वर्ष उपांशुजप एवं पुनः चार वर्ष मानस जप करे। तत्पश्चात् अजपाजप के दृढाभ्यास से हृदय में प्रकाश, सुमधुर झङ्कार, अणिमादि सिद्धियाँ आदि साधक के मार्ग में आकर अन्त में दिव्यानन्द प्राप्त होता है। साधक सद्गुरु आदेशानुसार इन साधनों को करके अतिशीघ्र सिद्धि पाता है।

* * *

चक्षु तीन प्रकार के हैं। चर्म चक्षु से परमेश्वर के दिव्य साकार विग्रह का दर्शन होता है। दिव्य चक्षु से परमेश्वर के सगुण मायाविशिष्ट स्वरूप का दर्शन होता है। ज्ञान चक्षु से परमेश्वर के त्रिगुणातीत मायारहित शुद्ध नित्य वास्तविक रूप का दर्शन होता है।

* * *

विश्वास आत्मोन्नति का एक प्रमुख साधन है। अविश्वासी की कोई साधना सफल नहीं होती। जैसे स्वादिष्ट पुष्टिकर दुग्ध खटाइ वाले पात्र में रहने पर अनुपादेय दुर्गन्धयुक्त व हानिप्रद बन जाता है वैसे ही विचारहीन असत्पात्र में विश्वास अशुभफलप्रद है। सद्गुरु सच्छास्त्र व सत्परमात्मा में विचारयुक्त विश्वास तो मोक्ष देने वाला है।

* * *

आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक त्रिविधरूपों में परमेश्वर उपास्य है। जैसे सूर्यमंडल आधिभौतिक है, तदभिमानी किरीटकुण्डलधारी विग्रह अधिदैव एवं नेत्र अध्यात्म है।

वेदाधिकारी मानव दो प्रकार का होता है बुभुक्षु व मुमुक्षु। अतः वेद द्वारा प्रतिपाद्य विषय भी दो हैं धर्म व ब्रह्म। धर्म से लौकिक व परलौकिक भोग की प्राप्ति होकर अन्त में चित्तशुद्धि के द्वारा मनुष्य मुमुक्षु बनता है। ब्रह्म-विचार के द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त होकर मानव जीवस्वरूप को छोड़कर शिवस्वरूप बन जाता है। जीव के शिव बनने की साधना को ही तो उपासना कहते हैं।

* * *

लोहे की शिला तैरती नहीं पर लोहे से बना जहाज तैरता है। विष मारक है पर वैद्य के हाथ में रक्षक हों जाता है। समुद्र का जल खारा होता है पर बादल बनकर मधुर बन जाता है। इसी प्रकार उपासना से अल्पज्ञ, दुःखी जीव सर्वज्ञ सुखी बन जाता है। गुरुप्रदत्त युक्ति ही जीव को शिव बनाने में समर्थ होती है।

* * *

अन्तःकरण अङ्गुष्ठपरिमाण वाला है। अतः उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी अंगुष्ठपरिमाण का होगा। इसलिए दहरोपासक व्यापक चैतन्य का भी अङ्गुष्ठपरिमाण से ही ध्यान करे।

* * *

अङ्गुष्ठपरिमाणी अन्तःकरण देहभर में व्याप्त हो जाता है एवं विषयप्रत्यक्ष में अतिदीर्घ हो जाता है। अतः उसमें चैतन्यप्रतिबिम्ब भी दीर्घ होगा। अतः प्रतिमोपासक, विराडुपासक, प्रतीकोपासक आदि उसी चैतन्य का ध्यान करें।

लोक में पूछते हैं 'अमन चैन है?' अर्थात् क्या तुम्हारा मन निरुद्ध है (अ-मन) जिससे चैन होती है। चैन या शान्ति का कारण निरुद्ध मन ही है।

* * *

तरंग में जलदृष्टि या जल में तरंगदृष्टि संभव हैं। प्रथम यथार्थदृष्टि है व द्वितीय भ्रान्तदृष्टि। इसी प्रकार जगत् में ब्रह्म दृष्टि या मूर्ति में ईशदृष्टि यथार्थ है। परन्तु ब्रह्म में जगद्दृष्टि या परमेश्वर में मूर्तिदृष्टि भ्रम है।

* * *

मन के आत्माकार बनने में मन की पदार्थाकारता प्रतिबन्धक है। जब मन न लीन है न पदार्थाकार तब स्वयं ही आत्माकार बन जाता है।

* * *

परमेश्वर को छोड़कर विषयचिन्तन करना कल्पवृक्ष को काट कर रोटी पकाना या अमृत पाकर पैर धोना या चिन्तामणि से पक्षी उड़ाने के समान है। मानव देह पाकर ईश-चिन्तन के द्वारा अपना कल्याण करो, भोग से नाश नहीं।

* * *

गुरु द्वारा चले मार्ग पर ही चलने में शिष्य का कल्याण है।

* * *

प्रेम का स्वभाव है अनेक को एक बनाना एवं द्वेष का स्वभाव है एक को अनेक बनाना। महेश्वर से प्रेम होगा तो फिर उससे अलगाव

कैसा? यदि अलगाव है तो प्रेम कैसा? अतः अद्वैत में ही सच्चे प्रेम की समाप्ति संभव है। द्वैताग्रह तो द्वेष (मायारूपी दोष) से ही होता है।

* * *

स्वप्न में इष्टदर्शन, देवदर्शन, गुरुदर्शन से मन्त्र सिद्धि का पता लगता है। छत्र, चामर, हरियाली, पुष्पफलान्वित वृक्ष, हवा, मेघ, हाथी, घोड़ा, सर्प, सिंह, सांड आदि के दर्शन भी साधक को उत्तम फल देते हैं।

* * *

गुरु कृपा से श्रीहरि का अनुग्रह संभव है। जैसे कमल को खिलाने वाला सूर्य ही जल के बाहर आने पर उसे सुखा देता है उसी प्रकार गुरुकृपा रूपी जल से युक्त शिष्य को ही भगवान् ज्ञान प्रदान करते हैं एवं गुरुकृपा से हीन की सारी साधना को निष्फल कर देते हैं।

* * *

निष्ठापूर्ण व निष्ठारहित भेद से भक्ति दो प्रकार की होती है। प्रथम भक्ति का प्रवाह एकरूप से निरन्तर बहता है। यह गुरुकृपा से ही लभ्य है एवं इस जन्म में ही जीवन्मुक्ति कराती है। निष्ठारहित भक्ति व्यभिचारिणी है एवं देख-देखी प्रारंभ तो उत्साह से होता है पर कालान्तर में उत्साह क्षीण होकर नैराश्य आ जाता है। यदि सत्संग मिल गया तो निष्ठा स्थिर रहती है और कुसङ्ग में पड़ गया तो पतन हो जाता है। अतः प्रारम्भिक साधक को नियमपूर्वक सत्संग से निष्ठा-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। स्वनिष्ठा से विरुद्ध कुविचारों के

अड्डे पर न जायें। मनुष्य में प्राणशक्ति, मन:शक्ति, क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति, बुद्धिशक्ति ये पाँच शक्तियाँ है। इनका संयम क्रमश: प्राणायाम, ध्यान, आसन, भगवत्प्रेम व विचार से होता है। इन सभी के अभ्यास से मनुष्य अपनी सारी शक्तियों को एकाग्र करके ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण को प्राप्त करके अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। इन्हीं को हठ-ध्यान-कर्म-भक्ति-ज्ञान योग भी कहते हैं।

* * *

ब्रह्मतत्त्व सर्वव्यापक है अत: जीव के अन्दर बाहर सर्वत्र है। इसलिए ब्रह्म सर्वदा प्राप्त है फिर भी मन की कल्पना के घटाटोप में इसका उसी प्रकार पता नहीं लगता जिस प्रकार वर्तमान भी सूर्य बादलों के घटाटोप में अवर्तमान-सा हो जाता है। मन:कल्पना रूपी बादल के हटने पर ही ब्रह्म सूर्य का दर्शन संभव है। इस प्रयत्न को ही साधना कहते हैं।

* * *

ज्येष्ठ के मध्याह्न कालीन घाम से यदि हठात् अन्धेरे कमरे में प्रवेश करेंगे तो कुछ भी न दीखेगा परन्तु दृष्टि को कुछ समय स्थिर करने पर पदार्थ दीखने लगेंगे। इसी प्रकार बाह्य विषयों के चाकचिक्य से मन को अन्त:स्थित परमात्मा को देखने में लगाओगे तो प्रथम कुछ भी न दीखेगा। शनै:शनै: कुछ दिनों के अभ्यास से फिर वृत्ति स्थिर होकर शान्त आनन्द स्वरूप भगवान् के दिव्यदर्शन होने लगेंगे।

साधक के हृदय में परमेश्वरप्राप्ति के लिए इतनी अधिक उत्कट इच्छा होनी चाहिये कि बाकी सारी इच्छाएँ मिट जावें। इतनी तड़पन व बेचैनी का अनुभव हो कि साधक साध्य के ध्यान में सारे संसार को ही भूल जाए, उसको अपने देह का भी भान न रहे। ऐसा साधक ही साध्य को शीघ्र प्राप्त कर सकता है।

* * *

मंत्र शब्द का अर्थ है गुप्त परामर्श। श्री गुरुदेव का शिष्य के प्रति गुप्त परामर्श ही उनकी कृपा है। शिष्य श्रद्धापूर्वक जैसे जैसे मंत्र के अक्षरों को सुनता है वे अक्षर भीतर जाकर शिष्य के अनन्त जन्मों के पापों से संघर्ष कर उन संस्कारों को दूर करते हैं। यदि साधक को अधिकार प्राप्त हुआ तो उसकी प्रसुप्त चेतना जग जाती है एवं मंत्रार्थ साक्षात्कार से वह कृतकृत्य हो जाता है। अन्यथा दीर्घकालीन निरन्तर अभ्यास से प्रथम साधिकार बन कर फिर साक्षात्कार प्राप्त करता है।

* * *

जीव का धर्म है साधना। ईशधर्म है कृपा। तुम अपना धर्म-पालन करो। परमेश्वर अपने धर्म का पालन करेगा। जो साधना न करके कृपा की आशा रखते हैं वे बिना जोते बोए ही बादल की कृपा से ही अन्न उपजने की आशा रखने की मूर्खता करते हैं।

* * *

सूर्य का सब पर समान भाव है। फिर भी नेत्रदोष वाला सूर्य-प्रकाश से लाभ नहीं उठा सकता। इसमें सूर्य का दोष नहीं। नेत्र दोष को दूर करके सूर्य-ज्योति से लाभ उठाना ही बुद्धिमत्ता है। इसी

प्रकार परमेश्वर की सब पर समान कृपा है। साधना से मन के दोष दूर कर ईशकृपा के भागी बनो।

* * *

वैदिकों के लिए गायत्री मंत्रानुष्ठान सर्वश्रेष्ठ है। गायत्री का विधिपूर्वक किया हुआ पुरश्चरण अवश्य लाभप्रद होता है। वैदिक होने के कारण इसमें स्त्री-शूद्र का अधिकार नहीं एवं द्विज भी गुरुमुख से विधि व शुद्धोच्चारण जान कर ही प्रारम्भ करे।

* * *

परमेश्वर के नामाग्नि में पापराशि जलकर भस्म हो जाती है। प्रतिक्षण नामवारि में जो स्नान करते हैं उन्हें आध्यात्मिकादि त्रिविध तापाग्नि का दाह स्पर्श नहीं कर सकता। अतः निरन्तर नामस्मरण ही तुम्हारा कर्तव्य है।

ज्ञान

ज्ञान मन की वृत्ति है। ब्रह्माकार वृत्ति अर्थात् सच्चिदानन्द रूप वृत्ति ही ब्रह्मज्ञान है जो कार्य सह अविद्या का निवर्तक है। चिद्धातु तो सर्वदा ही ज्ञप्ति स्वरूप है। वह अविद्या का साधक है, निवर्तक नहीं। यथा सूर्य फूस का साधक है, पोषक व प्रकाशक है, पर सूर्य-कान्तमणि में से निकलकर नाशक हो जाता है।

* * *

कलियुग में विक्षेपरहित वेदान्तविचार ही उत्तम समाधि है। अन्नमय प्राणी अन्य समाधि कर भी तो नहीं सकता।

* * *

निरन्तर वेदान्तश्रवण के लिए ही तो सर्वकर्म संन्यासरूप परमहंस आश्रम का विधान है। केवल संन्यास से कोई लाभ या कृतार्थता नहीं। यदि संन्यास लेकर भी बहिर्मुखी प्रवृत्ति में लगोगे तो अन्त में पछताना पड़ेगा। संन्यास तो श्रवण का अङ्ग है।

* * *

भाष्यादि ग्रन्थों में संन्यास को वेदान्तश्रवणजन्य अपरोक्षानुभवार्थ अवश्यानुष्ठेय रूप से बतलाया है अतः सिद्धान्त में जनक अश्वपति आदि को भी पूर्वजन्मकृत संन्यास के बल से ही ज्ञानोत्पत्ति को स्वीकार किया है। अतः अर्वाचीन गृहस्थों में भी ज्ञानोत्पत्ति संभव है अतः उन्हें भी श्रद्धापूर्वक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से अवश्य ही नियमतः वेदान्त-श्रवण करना चाहिए। पूर्वजन्मकृत योगाभ्यास

वाला तो आत्मानुभव द्वारा यहीं जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त करेगा एवं दूसरे सद्‌गृहस्थ अश्वमेधादि यज्ञों से भी अधिक पुण्याप्ति करेंगे।

*　　　　*　　　　*

ज्ञान व भक्ति का अधिकार सभी योनियों में जीवमात्र को है।

*　　　　*　　　　*

मृत्तिकानिर्मित घट में तीन दृष्टि उत्तरोत्तर होती हैं: (क) मृत्तिका से घट बना है। (ख) घट मृत्तिकारूप है, भिन्न नहीं (ग) मृत्तिका ही मृत्तिका है, घट है ही नहीं। प्रथम दृष्टि विचारक की है। द्वितीय शास्त्रज्ञानी की एवं अन्तिम अपरोक्षसाक्षात्कारी की है।

*　　　　*　　　　*

एक संख्या के समक्ष ही शून्य की सत्ता है। संख्याशून्य शून्य असत् है। इसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म के साथ अध्यस्त माया की सत्ता है, अधिष्ठानशून्य माया असत् है। ब्रह्म ही स्वसत्ता से माया की असत्ता को सत्ता प्रदान करता है।

*　　　　*　　　　*

एक मिनट के स्वप्न में ही ५० वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। फिर उसी स्वप्न के अन्दर जो स्वप्न आता है उसके काल का क्या परिमाण! अतः काल की सत्ता आपेक्षिक है।

*　　　　*　　　　*

ब्रह्म का सच्चिदंश तो नित्य अनावृत है। आनन्द व अनन्त ही आवृत हैं। अतः ब्रह्माकारवृत्ति इन्हें अनावृत करती है। इनके अनावरण के बिना कृतकृत्यता-बुद्धि नहीं करनी चाहिए।

वेदान्त श्रवण से ही अज्ञान को नष्ट करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है परन्तु संशय-विपर्यय से उसकी शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है। मनन-निदिध्यासन से क्रमशः संशय व विपर्यय नष्ट हो जाते हैं। अतः मनन- निदिध्यासन से हीन ज्ञान से मोक्ष नहीं। केवल वाचिक ज्ञान से कृतकृत्यताबुद्धि ज्ञानमार्ग का अवरोधक है। साधक इससे सावधान रहे। विचार व ध्यान से प्रतिबन्धकों को दूर कर अपरोक्षसाक्षात्कारार्थ ज्ञानदाढ्र्य प्राप्त करे।

* * *

स्वप्नदृष्ट गौ और वत्स दोनों में जन्यजनकभावरूप कार्यकारणता का अत्यन्ताभाव है। तथापि माया द्वारा निद्रादुष्टान्तःकरण में दृढ प्रतीति होती है। जिस मन ने गौ-वत्स कल्पित किए हैं उसी मन ने सम्बन्ध भी कल्पित किया है। इसी प्रकार ब्रह्म व जगत् का सम्बन्ध भी जगत्कल्पक माया से ही कल्पित है। जाग्रत् पदार्थ एवं उनके सम्बन्ध भी मायाकल्पित हैं। जगत् के पदार्थों का आपस में काई सम्बन्ध नहीं।

* * *

अजातवाद ही वास्तविक वेदान्तराद्धान्त है। अन्य सब प्रक्रियाएँ हैं।

* * *

दृष्टि ही सृष्टि है। दृष्टिभिन्न सृष्टि मानने में प्रमाणाभाव है। पर जगत्सत्यत्वभावना के दृढ संस्कारों से वासितान्तःकरण इस सत्य

को ग्रहण करने में असमर्थ होता है अतः अन्य प्रकार से सृष्टि-कल्पनाओं का वेदान्त में विस्तार किया गया है।

*　　*　　*

ज्ञान से सृष्टि का नाश नहीं, बाध होता है। सत्य पदार्थ का नाश एवं कल्पित का बाध होता है। अधिष्ठानज्ञान से अध्यस्त अधिष्ठान रूप से अनुभूत होता है एवं अध्यस्त के त्रैकालिकात्यन्ताभाव का निश्चय होता है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' ही बाध है। फिर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन है।

*　　*　　*

आत्मज्ञान का हेतुभूत दर्शन दो प्रकार का है: (क) आत्मा में सर्वभूत-दर्शन एवं (ख) भूतों में आत्मैक्य-दर्शन। इनमें से दोनों समानरूप से आवश्यक हैं। केवल एक के ज्ञान से मुक्ति सम्भव नहीं।

*　　*　　*

मन माया की मूर्ति है। माया अननुभूत है व मन अनुभूत। मन ही माया है।

*　　*　　*

'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' रूप संशय ज्ञान भी पुरुषज्ञान क्षण में प्रमारूप है। पर द्विकोटिक ज्ञान होने से अज्ञान व तज्जन्य अनर्थ का निवर्तक नहीं। 'स्थाणुर्नैव, पुरूष एव' ज्ञान ही दृढ होने से अज्ञान व अनर्थ को दूर करता है। इसी प्रकार ध्यान या विचार काल में

'ब्रह्मैवाहम्' एवं व्यवहारकाल में 'कर्ता भोक्ताहं' इस प्रकार का द्विकोटिक ज्ञान आनादि अज्ञान का निवर्तक नहीं परन्तु 'ब्रह्मैवाहन्न देहभाक्' इस प्रकार का सार्वकालिक दृढज्ञान ही मूलाज्ञान का निवर्तक है।

* * *

शाङ्करभाष्य व आनन्दगिरिटीका सहित प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र) ही निष्ठा कराने वाले ग्रन्थ हैं। मुमुक्षु को बार बार इन्हीं का अभ्यास करना चाहिए। वाद एवं तर्क ग्रन्थ निष्ठा में अनुपयोगी एवं मुमुक्षु को शास्त्र वासना उत्पन्न कर उत्पथ में भी गमन करा सकते हैं। अतः यदि पूर्व से ही अभ्यास न हो तो इनमें बुद्धि को विक्षिप्त न करे।

* * *

सुषुप्ति में मन की स्थिति कारणरूप से अर्थात् अज्ञानरूप से है। निर्विकल्प समाधि में अधिष्ठानरूप से अर्थात् ब्रह्मरूप से मन स्थित होता है। अतः सुषुप्ति ब्रह्मवाद स्वकल्पनाप्रसूत है, वैदिक सिद्धांत नहीं है।

* * *

जीव की निद्रा अनादि अविद्या है। प्रतिदिन की निद्रा तो मन की निद्रा है। अतएव जैसे मन के निद्रा से उठने पर समस्त निद्राजनित दोष स्वप्नादि के सहित निद्रा दोष भी दूर हो जाता है; ऐसे ही जीव के उठने पर अविद्याजनित समस्त कार्य के सहित अविद्या भी निवृत्त हो जाती है। निद्रा के भंग होने पर भी दिल की धड़कन, कम्प, स्वेद,

रोमांच आदि जैसे अनुवृत्त रहते हैं वैसे ही स्थूल सूक्ष्म देह की कुछ काल तक स्थिति होती है।

*　　　*　　　*

रोग दो प्रकार का है— संसार रोग व संसार में होने वाले रोग। देह, मन आदि में रहने वाले ज्वर शोक आदि द्वितीय प्रकार के रोग हैं जिनकी निवृत्ति आयुर्वेदादि से होती है। प्रथम की निवृत्ति विचार से होती है। भवरोग ही समस्त रोगों का कारण है। उसकी निवृत्ति से दूसरे रोग स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं।

*　　　*　　　*

अपने में योग्यता न होने पर भी दूसरे की सहायता से योग्यता आ जाती है। जैसे अरुण सूर्य की सहायता से प्रातःकाल अन्धकार को दूर करने में समर्थ हो जाता है। इसी प्रकार गुरु की कृपा से शिष्य की योग्यता में कमी होने पर भी मुक्ति अवश्य हो जाती है। गुरकृपा हो गई तो मोक्षद्वार को खुला हुआ ही समझ लो।

*　　　*　　　*

गुरु द्वारा श्रवण करके उसे ग्रहण करे तब ज्ञान होता है डाक्टर की दवा के सेवन से ही रोगनिवृत्ति सम्भव है। डाक्टर की प्रशंसा से रोग नहीं जाता। उसके पास जाकर उसके कथन को ध्यान से सुनना होगा। फिर दवा लेनी पड़ेगी। लेकर भी जेब या अलमारी में रखने से न होगा, सेवन करनी होगी। कुपथ्य करने वाले को औषधि लाभ न पहुँचा सकेगी अतः पथ्य से रहना होगा। इसी प्रकार गुरु की प्रशंसा मात्र से भवरोग निवृत्त न होगा। गुरु के पास विधिवत्

जाकर गुरु की शरण लेकर उसके उपदेशामृत को श्रवण करना होगा। मनन निदिध्यासन का अभ्यास करना होगा। दुश्चरित्र से विरत होना पड़ेगा। संसार के पदार्थों से आसक्ति का परित्याग करना होगा। तभी अपरोक्षानुभवरूपी फल प्राप्त हो सकेगा।

*　　　*　　　*

संन्यासी सर्वत्याग कर सकता है। गृही कर्म के फल से आसक्ति एवं स्त्री पुत्र धन गृहादि में ममता का त्याग कर सकता है। यह भी एक प्रकार का संन्यास ही है।

*　　　*　　　*

दो भिन्न वस्तुओं को एक समझना अविवेक है। दोनों को अलग-अलग जानना विवेक है। चेतन व जड़ दोनों पिण्ड में हैं। दोनों को एक समझना अविवेक है। द्रष्टा साक्षी को दृश्य देह-मन आदि से भिन्न समझना विवेक है। यही सांख्य-साधना की चरम सीमा सत्त्वपुरुषान्यताख्याति है।

*　　　*　　　*

परमेश्वर और जगत् दोनों को एक समझना अविवेक है। व्यापक, नियन्ता, सुखरूप अविनाशी शिवरूप परमेश्वर से परिच्छिन्न, नियम्य, दुःखरूप, विनाशी, अशिवरूप जगत् को पृथक् जानना न्यायसाधना एवं द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि आधुनिक भक्तिमार्ग की चरम सीमा है। पांचरात्र वैष्णव सिद्धान्तों में चतुर्व्यूहादि की कल्पना के द्वारा इसे ही पुष्ट किया गया है।

अध्यस्त व अधिष्ठान को पृथक् न जानकर अधिष्ठानरूपता के ही ग्रहण को विज्ञान कहते हैं। रस्सी सर्प भिन्न हैं इस विवेक के भी पश्चात् रस्सी ही है, सर्प न था, न है, न रहेगा इस प्रकार का विज्ञान होता है। दृश्य देहादि व दुःखरूप समस्त जगत् न था, न है, न रहेगा। द्रष्टा अनन्त शिव ही है "प्रपंचोपशमं शिवम्" यह विज्ञान है। यही वेदान्त की चरम सीमा है यही औपनिषद मत है। साक्षी का शिव स्वरूप से ज्ञान महावाक्य से ही होता है।

* * *

सत्संग

वेदान्त श्रवण अर्थात् सत्संग के लिए घर से चलने पर प्रत्येक कदम पर पुण्य कमाते हो। सिनेमा, क्लब-घर आदि के लिए चलने पर प्रति कदम पाप की गठरी बाँधते हो।

*　　　　*　　　　*

जप से पुण्य होता है पर विचार नहीं आता। इसीलिए जपकाल में चित्त शान्त होता है, व्यवहारकाल में फिर पहले के जैसा। वेदान्तविचार से पुण्य व विचार दोनों होते हैं। अतः सत्संगी व्यवहारावस्था में भी शान्ति व आनन्द का अनुभव करता है।

*　　　　*　　　　*

जप-ध्यान में चित्त की एकाग्रता स्वप्रयत्नाधीन है अतः आरंभ के साधक के लिए कठिन है। सत्संग में वह वक्ता के आधीन होने से सरल है। परन्तु इसीलिए साधक को सावधान रहना चाहिए कि जो वक्ता अपने भावों का पोषक व वैराग्यवान् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ न हो उसके सत्संग में उसकी वक्तृत्वशक्ति के प्रभाव से अपने भाव को नष्ट न होने दे, अन्यथा स्वरूप व साधना से गिर जायगा। हमेशा योग्य व अधिकारी निष्ठावान् का ही सत्संग करो। आज के युग के एक एक मुहल्ले के २४-२४ अवतार व ८०-८० सहस्र ऋषिओं से अपने साधनक्रम को नष्ट न होने दो।

कुसंग ही सारे दुःखों की जड़ है। आधुनिक स्कूल, कौलेज, क्लब, सिनेमा इत्यादि कुसंग के अड्डे हैं। कुसंग छोड़ सत्संग में लगने से ही कल्याण होगा।

* * *

देशसेवा, जनसेवा, धर्मप्रचार के नाम पर रात्रिदिन स्त्री अथवा पुरुष के सहवास से, साथ कार्य करने से, साधक अधःपतित हो जाता है। ब्रह्मचर्यरक्षा के लिए आवश्यक है कि साधक यथाशक्य न्यूनतम सम्बन्ध रखे।

* * *

संन्यास

मन्द वैराग्यवाला एवं मन्द बुद्धिवाला व्यक्ति जीवन के शेष भाग में गाँव में रहकर अपने घर से भिक्षा माँग-कर जीवन निर्वाह करे। 'ॐ नमः शिवाय' इस मंत्र का जप करे। यह कुटीचक संन्यास है।

* * *

सामर्थ्यवाला मन्दवैराग्यवान् तीर्थयात्रा का इच्छुक ग्राम में तीन रात्रि, नगर में ५ रात्रि, पत्तन में ७ रात्रि निवास करता हुआ एक, तीन, पाँच या सात घर से भिक्षा लेते हुए युवावस्था व्यतीत करे। 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का जप करे। यह बहूदक संन्यास है।

* * *

पूर्ण वैराग्यवान् मंद बुद्धिवाला हंस संन्यास ग्रहण करे। तीर्थतट पर रहते हुए एकान्तवास, भिक्षा, शौचादि, तर्पणादि करते हुए प्रणव का जप करे।

* * *

पूर्णतम वैराग्यवान् तीक्ष्ण बुद्धिवाला परमहंस संन्यास ग्रहण करे। सर्वकर्मपरित्याग कर, देहरक्षण के लिए भिक्षादि करते हुए निरन्तर गुरु की सेवा में लगकर वेदान्त का श्रवण, मनन व निदिध्यासन करे।

आत्मज्ञानोदय के पश्चात् विद्वत्संन्यास ग्रहण करे। निदिध्यासन में रत रहे एवं सर्वप्राणियों के ऊपर अनुग्रहार्थ इच्छा हो तो वेदान्त का प्रचार उपदेश करे। स्वयं भी धर्मानुष्ठान करे लोगों को प्रवृत्त कराने के लिए। ऐसा लोकसंग्रहचिकीर्षु ही वेदान्तोपदेशक एवं मठादि कार्य संचालन कर सकता है। साधक के लिए तो प्रवृत्ति घातक ही है। इच्छा न होने पर उसके लिए प्रचार भी कर्तव्य नहीं। पर प्राप्त योग्य शिष्य को अवश्य उदेश करे अन्यथा सम्प्रदायभंग होकर कृतघ्नतादोष की प्राप्ति होती है।

*　　　*　　　*

प्रकीर्ण

प्राण ही आयु है। प्रतिप्राणी श्वास संख्या सीमित है। इस संख्या का नाम ही आयु है। सामान्यतः प्रतिदिन २१,६०० श्वास मानव व्यय करता है। इसको कम करने से आयुवृद्धि एवं अधिक करने से आयु कम हो जाती है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि गाने में श्वास १६, भोजन में २०, चलने में २४ निद्रा में ३०, मैथुन में ३६ अंगुल प्रमाण का व्यय होता है। जप, ध्यान, समाधि में क्रमशः न्यून का व्यय है। अतः मानव श्वास का व्यय सावधानतापूर्वक करे।

*　　　　*　　　　*

बीता समय वापिस नहीं लौटता। समय के मूल्य को न समझने से ही ताश, चौपड़, शतरंज, नाच, निद्रा, प्रमाद में लोग अपना अमूल्य समय व्यतीत करते हैं। बहुत से तो समय ही नहीं स्वास्थ्य, धन, आयु, पुण्य सभी को नष्ट करने वाले सुल्फा, गाँजा, भाँग मदिरा, कोकीन आदि नशों का सेवन करते हैं। समय की रक्षा व सदुपयोग साधक का प्रधान कर्तव्य है।

*　　　　*　　　　*